

सीखने की प्रक्रिया अनामिका

शिक्षा विमर्श में सीखने की प्रक्रिया पर यह कॉलम शुरू किया गया है। हमारा मानना है कि हरेक व्यक्ति का सीखना सहज और सरल रेखीय नहीं होता। स्कूल, परिवार, समाज, मित्रों और साहित्य आदि के मध्य एक द्वंद की प्रक्रिया में सीखना सतत चलता रहता है। यही प्रक्रिया व्यक्ति के व्यक्तित्व को रूपाकार देती है। सीखने के सिद्धांतों से इतर निज स्तर पर सीखने की प्रक्रिया को समझने का यह एक प्रयास है। यह मंच सभी के लिए बिना आमंत्रण के खुला है।

‘चौखटे में नहीं अंटता
बेटे का ‘क’
कबूतर ही है न -
फुदक जाता है जरा-सा!
पंक्ति से उतर जाता है उसका ‘ख’
खरगोश की खालिस बेचैनी में!
गमले-ए टूटता हुआ उसका ‘ग’
घड़े-सा लुढ़कता हुआ उसका ‘घ’ -
ड. पर आकर थमक जाता है -
उससे नहीं सघता ‘ड.’!
‘ड.’ के ‘ड’ को समझता है ‘माँ’
और उसके ‘0’ को कहता है ‘बेटा’,
मां-बेटे सधते नहीं उससे
और उन्हें सीखने की
अनवरत-सी साधना में
उसके आ जाते हैं आंसू !
पहली विफलता पर छलके ये आंसू ही
हैं शायद प्रथमाक्षर
सृष्टि की विकास-कथा का।’

अपने बड़े बेटे को अक्षर ज्ञान कराते हुए मैंने यह कविता जब लिखी, मेरी उम्र पच्चीस साल थी! पिछले पच्चीस वर्ष गुजर गए आंख के आगे से जब अन्तिम पंक्तियां लिखीं! तब मैं खुद सीख ही रही थी। जो आता, पाठ ही पढ़ा जाता! जिन्दगी ने भी कब सबक नहीं ही पढ़ाए ! उम्र का वह दौर था जब आदमी का दिमाग भी उड़ा-उड़ा-सा रहता है, औरत का तो और भी ज्यादा :

‘खुला हुआ है मेरे सामने सरीफा-ए-इश्क
समझ रहा हूँ मगर क्या समझ रहा हूँ मैं’ - वाली मनःस्थिति! जो सामने आता -
कोई किताब, कोई पर्चा - भुक्खड़ की तरह उसे पढ़ती ! हर व्यक्ति खिड़की की तरह सामने
खुलता और जीवन का मर्म समझने की अंतर्दृष्टि थोड़ी जरूर बढ़ा जाता!

लेखक परिचय :

दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए., पी.एच.डी.। वर्तमान में सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में अध्यापन कार्य।

पुस्तकें : गलत पते की चिट्ठियां, बीजाक्षर, अनुष्टुप (तीनों कविता संग्रह)। पोस्ट-एलियट पोएट्री, स्त्रीत्व का मानचित्र (आलोचना)। ‘कहती हैं औरतें’ संपादित कविता संग्रह।

सम्पर्क :

डी - II/83, किदवई नगर पश्चिम,
नई दिल्ली - 23

आपने कहा है - टटोलूं ! भीतर झांकूं - क्या होती है प्रक्रिया सीखने की। सीखने की प्रक्रिया थोड़ी मिस्टिकल तो जरूर होती है क्योंकि सहसा कोई एक प्रविधि एकदम से कारगर प्रविधि के रूप में कौंधती नहीं। मनःस्थिति, परिस्थिति, विषय, शिक्षक और सहपाठियों से मेरे समायोजन के अनुरूप जीवन के अलग-अलग चरणों में सीखने-समझने के अलग-अलग ढंग मैंने चुने - आजमाए। कभी सफल रही, कभी विफल !

शुरू के कई बरस अपने माता-पिता के संग कविताओं, श्लोकों और दोहों की अंत्याक्षरी खेलते बीते ! खेल-खेल में भीतर कुछ दरका-चटका अँखुवाया ! आज तक जीवन के कठिन क्षणों में अपने पिता डॉ. श्यामनन्दन किशोर की काव्य पंक्तियां और मां, डॉ. आशा किशोर की सुनाई-पढ़ाई (विश्व - साहित्य की) अन्य पंक्तियां मेरे मस्तिष्क में विद्युत लेख की तरह टिमक जाती हैं और घने अंधेरे में भी कहीं एक राह दिखाई दे जाती है ! ... लेकिन यह पाथेय जो मुझे मिला है - आगे अपने बच्चों और छात्र-छात्राओं में बांटते हुए कभी-कभी मेरी छाती धड़क जाती है! अब जैसे यही एक बात जो पिताजी कई श्लोकों के माध्यम से मेरे अवचेतन में तो रोप गए पर जिस भाषा में यह बात कही गई, वह भाषा बोलते हुए मेरा मातृ-हृदय गच्चा खा जाता है ! पापा में नैतिक साहस था, वे कुछ भी कह सकते थे, मुझसे यह बच्चों के सामने दोहराते बन ही नहीं पाता कि हर सुबह आंख खुले तो खुद को संबोधित कर यही कहो कि आज का दिन मेरे जीवन का अन्तिम दिन हो सकता है ! इस भाव के साथ दिन शुरू करने के जो मनोवैज्ञानिक फायदे हैं - मैं उनसे अवगत हूं ! मृत्यु किसी क्षण बाल पकड़कर कर जीवन की सरहद के बाहर खींच सकती है - यह अहसास बना रहे तो आदमी कभी किसी से बुरा व्यवहार कर ही नहीं पाता और जो काम करता है, पूरे मन से ! पर मृत्यु बच्चों के बाल खींचकर किसी क्षण जीवन के बाहर कर सकती है - यह भयावह बात लिखते हुए मेरी तलहथी पसीज रही है, कलेजा मुंह को आ रहा है ... !! तो निष्कर्ष यह है कि कुछ पाठ आदमी पढ़ तो लेता है, पर पढ़ा नहीं पाता ! एक पाठ मैंने बचपन में पढ़ा था पर उसकी यह जो महीन कोरोलरी या उपस्थापना है कि पठन-पाठन के क्षेत्र में 'ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया' बिल्कुल संभव नहीं होता - इतने दिनों के अनुभव के बाद यह बात खुली। सीखने की प्रक्रिया कभी खत्म नहीं होती और जीवन की अलग-अलग अवस्थाओं में एक ही बात की अलग-अलग परतें खुलती चलती हैं-रूपक - प्रतीक - अध्याधार - नीतिकथाएं - कथोपकथन समय के साथ अपने रंग बदल देते हैं !

दर्शन और साहित्य आत्मसात करने की प्रक्रिया लम्बी, दुरूह

मगर रोचक है ! दर्शन तो आजमाकर देखने की चीज है और आजमाकर देखेंगे आप तभी जब दार्शनिक स्थापना देने वाले पर आपका भरोसा पूरा हो, जैसे मेरे केस में मुझे पिता पर था! यहीं 'एक्जाम्पल इज बेटर देन परसेप्ट' की बात समझ में आती है ! साहित्य में चरित्र, कथोपकथन, रूपक और बिम्ब दिमाग में अपने तम्बू जल्दी-जल्दी गाड़ते हैं यदि उनसे हमारा तादात्म्य पूरा हो या वे हमारे अपने अनुभवजगत का रिश्ता हों। साइन्स फिक्शन और साहसिक कथाएं मेरे गले के नीचे कभी नहीं उतरतीं क्योंकि उनके चरित्र मुझे दूसरे ही ग्रह के निवासी लगते - यही हाल आंकड़ों और तिथियों का था जो युधिष्ठिर की कौड़ियों की तरह मुझे पन्ने पर बिखरी नजर आतीं ! जैसे इक्कर - दुक्कर में बाड़ा फलांगते हैं, मैं लड़ाई-भिड़ाई के सब तथ्य टालसटॉय के महान उपन्यास 'वार एण्ड पीस' में भी लांघ-फलांग लिए और आज आंख बंद करके सोचती हूं तो सिर्फ वे क्षण याद आते हैं, जब दो लोग आमने-सामने हों ! अन्तर्वैयक्तिक और सामाजिक उथल-पुथल की चर्चा कथोपकथनों या काव्यात्मक वर्णन में जहां होती, वहां तो मैं बार-बार डुबकी लेने लगती - बाकी तथ्यात्मक व्याख्याएं रेगिस्तान का सफर लगतीं। शेक्सपीयर के नाटकों में एकालाप और चुटीले संवाद जल्दी कंठस्थ हो जाते - रोचक बिम्बों और व्यंजक मुहावरेदारी के चलते ! हैमलेट पढ़ती तो कई महीने लगता रहता, मैं हैमलेट ही हूं। 'किंग लिथर' पढ़ती तो 'किंग लिथर' हो जाती - उसी भाव से देखती रहती दुनिया ! कभी-कभी अकबर, मीराबाई, राणा प्रताप बनकर इतिहास की गलियों में भटका करने की याद मुझे है।

अब स्थिति फिर से बदल गई है। अब तथ्य और कच्चे आंकड़े ज्यादा आकर्षित करते हैं। लगता है, फ़ैक्ट इज स्ट्रेन्जर दैन फिक्शन ! उम्र बढ़ने के साथ बेतुआ, करेला जैसे सब्जियां, जो बचपन में अभोज्य लगती थीं, अच्छी-अच्छी-सी लगने लगी हैं - ठीक वैसे ही जैसे देखते-देखते ड्रॉक्यूमेण्टरी फिल्में, विश्लेषणात्मक आंकड़े अच्छे लगते हैं।

सिलाई-बुनाई कम्प्यूटर की तरह सब वैज्ञानिक उपस्थापनाएं खुद आजमाकर देखे बिना पूरी तरह समझ में नहीं आतीं- यह भी मैंने महसूस किया। इस तरह की चीजें उंगलियों के रास्ते दिमाग में जाती हैं - करते-करते इनका शिल्प सधता है! प्रयोगोन्मुख है इनका शिल्प !

गणित के सूत्रों के साथ भी कमोबेश यही बात है ! समस्या 'विजुअलाइज' कर लेने मात्र से आधा रास्ता कटता है - बाकी आधा रास्ता खुद मिट्टी कोडनी होती है और 'पेशेन्स-पर्जिवेरेन्स और प्रैक्टिस' के तीन 'पी' तो गणितीय दृष्टि ही नहीं, चरित्र के विकास का भी फॉर्मूला हैं !

मानवीय दर्शन हमें सिखाता है - हमें लोक-व्यवहार में भी बहुत 'कैलकुलेटिव' नहीं होना चाहिए, दो और दो हमेशा चार नहीं होते। मेरे आंसू की दो बूंदें आपके आंसू की बूंदों से मिलकर एक बड़ी बूंद भी बना सकती है... वगैरह ! इस बारे में मेरी मान्यता है कि जिस प्रकार छन्द साधकर छन्द के पार जाने की कोशिश करनी चाहिए, विषय भोग और आसक्ति से ऊपर उठना अधिक सार्थक होता है - गणनाएं समझकर गणनाओं से पार जाना, दुनिया को समझकर दुनिया से ऊपर उठना श्रेयस्कर है।

कार्य-कारण संबंधों के साथ भी यही बात है। दैनन्दिन व्यवहार में कुछ अनुभव ऐसे होते हैं जहां कार्य-कारण संबंध वाला सिद्धान्त अकबका जाता है। प्रेम, इन्ट्यूशन, प्रिमोनिशन, प्रत्याभिज्ञा, प्रभा (अपरिचित का बहुत दिनों का परिचित दीखना) आदि जीवन के कुछ रहस्यमय अनुभव हैं जिसकी पूरी व्याख्या कार्य-कारण संबंध से होती नहीं ! सृष्टि के भी कई रहस्यों के बाद में क्वाण्टम भौतिकीविद प्रश्न उठा चुके हैं मगर इस बात से कोई मुकर नहीं सकता है कि नियम नियम हैं, अपवाद अपवाद !

स्कूल भर मैंने गणित और विज्ञान काफी मन से पढ़ा था ! इसके कुछ सूत्र तो कविताओं के रूपक भी बने! जैसे, एक कविता है 'भिन्न', एक 'भाग'।

कुल-मिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है - पढ़ा-सुना-भोगा हुआ कुछ भी व्यर्थ नहीं जाता ! कब का पढ़ा-सुना-सीखा कब काम आ जाएगा- कोई नहीं जानता ! बैंक की तरह बुद्धि का भी एक आवर्ती जमा खाता होता है - आपातकाल को निवेदित यह खाता जीवन का मर्म समझने में भी बहुत काम का होता है। कठिन घड़ी में ही तो जीवन का मर्म खुलता है न ! मूल ग्रन्थ तो जीवन है, बाकी सब ज्ञान-विज्ञान उसका भाष्य और कुंजियां हैं - बहुत हुआ तो उसका संदर्भ ग्रंथ ! सूचनाएं संवेदनात्मक ज्ञान का मात्र एक हिस्सा हैं ! सूचनाएं जब तक 'पर्सपेक्टिव' के रूप में ढल नहीं जातीं - बेवजह ही वे दिमाग का बोझ बनी रहती हैं और मन में यह मुगालता भी जगाए रखती हैं कि हम जानते बहुत हैं।

जैसे चाय छान लेने के बाद चाय की पत्ती गृहणियां गुलाब की जड़ में डाल देती हैं, व्यर्थ की सूचनाएं हमें उलीच देनी चाहिए ! इसी को विद्वान और मनीषी 'अनलर्न' करने की प्रक्रिया कहते हैं।

इससे ही मस्तिष्क में जरूरी 'ब्रीदिंग स्पेस' या श्वसन - रंध्र सृजित होता है जहां सार्थक सूचनाएं 'पर्सपेक्टिव' के रूप में फैल सकें जैसे अगरबत्ती का धुंआ फैलता है। शिक्षा वही जो हमें और मानवीय बनाए ! बाकी सब सूचनाओं का सरप्लस है जिसे चिन्तन-मनन से थिराकर धीरे से ऐसे निथार दें जैसे रसायनशास्त्र की प्रयोगशाला

में बीकर के बालू से पानी अलग करते हैं। वही पानी है जो रखना है - 'रहिमन पानी राखिए' के अर्थ में !

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून !

पानी गए न ऊबरे, मोती-मानस-चून।

आज मेरा वही बेटा जिसकी खातिर 'अक्षर-ज्ञान' लिखा था, इंजीनियरिंग की अपनी स्थूलकाय पोथियों से सर उठाकर मुझसे कहता है :

मां मैं अदृश्य हुआ जाता हूं !

ऊंचे पहाड़ ये किताबों के

बना गए हैं मुझको

एक नया 'इन्विजिबल मैन' -

बीज गणित में, काश, एक बीज होता

फूलों का भी,

अंक गणित गणनाओं के पार जाता,

रेखा गणित की रेखाएं सब

किसी चित्र की बंकिम रेखाओं-सी होतीं

या फिर गिल्ली - डंडा बनकर

मेरे संग खेलतीं'।

इस समय कबीरदास के 'ढाई आखर' मेरे पूरे वजूद में डबडबाई आंखों की तरह उग आते हैं ! और मन में यही संकल्प नए सिरे से जगता है, सीखना-सिखाना वही है जो मुझे प्रेम का 'कोसेप्ट' बढाए ! ♦